

• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गो जयतः •

❖	स व पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।	❖
धर्मः स्वतुष्टितः पुंसां विद्वक्त्रेण कथासु यः		मोक्षपादपेद यदि रति श्रम एव हि केवलम्
❖	अहेतुव्यप्रतिहता ययात्मानुप्रसीदति ।	❖

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षज की ग्रहेतुकी विघ्नशून्य प्रति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ।

वर्ष ११ } गौराब्द ४७६, मास—हृषिकेश ५, वार—प्रद्युम्न } संख्या ३
मंगलवार, ३२ श्रावण, सम्बत् २०२२, १७ अगस्त, १९६५ }

श्रीदान-निर्वर्त्तन-कुण्डाष्टकम्

श्रीदाननिर्वर्त्तन-कुण्डाय नमः

[श्रील-रघुनाथदास-गोस्वामि-विरचितम्]

स्व-दयित - गिरिकच्छे गव्य-दानार्थमुत्तमः कपट कलह-केलि कुर्वतोर्नव्यधूनोः ।
निजजन-कृतदर्पोः फुल्लतोरीक्षकेऽस्मिन् सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥१॥
निभृतमजनि यस्माद्दान-निवृत्तिरस्मिन् तत इवमभिधानं प्राप यत्तन् समायाम् ।
रसविमुख-निगूढे तत्र तज्जङ्गवेषे सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥२॥
अभिनव - मधुगन्धोमस-रोलम्बसंघ-ध्वनि - ललित-सरोजव्रात - सौरभ्य-शीते ।
नव-मधुर-खगाली-क्ष्वेलिसंचार - कम्पे सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥३॥
हिम-कुसुम - सुवास - स्फार-पानीयपूरे रस-परिलसदाली-शालीनोर्नव्यधूनोः ।
अतुल-सलील-खेला-लब्ध-सौभाग्य-फुल्ले सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥४॥
दर विकसित पुष्पैर्वीसितान्तरिङ्गताः लग-मधुप-निनादंभोदित - प्राणजाताः ।
परित उपरि यस्य क्षमारुहा भान्ति तस्मिन् सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥५॥

निज-निज-नवकुंजे गुञ्जि-रोलम्ब-पुंजे प्रणयि-नव-सखीभिः संप्रवेश्य प्रियी तौ ।
 निरुपम-नवरङ्गस्तन्यते यत्र तस्मिन् सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥६॥
 स्फटिक-सममतुच्छं यस्य पानीयमच्छं खग-नर-पशु-गोभिः संपिबन्तीभिरुच्चैः ।
 निज-निज-गुणवृद्धिर्लभ्यते द्रागमुष्मिन् सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥७॥
 सुरभि-मधुर-शीतं यत् पयः प्रत्यहं ताः सखिगण परिवीतो व्याहरन् पाययन् गाः ।
 स्वयमथ पिबति श्रीगोपचन्द्रोऽपि तस्मिन् सरसि भवतु वासो दाननिर्वर्त्तने नः ॥८॥
 पठति सुमतिरेतद्दान निर्वर्त्तनाख्यं प्रथित-महिम कुण्डस्याष्टकं यो यतात्मा ।
 स च नियत-निवासं सुष्ठु संलभ्य काले कलयति किल राधाकृष्णयोर्दान-लीलाम् ॥९॥

अनुवाद—

अपने प्रिय गोवर्द्धन गिरिके समीपस्थ प्रदेशमें दूध-दही आदिके दानको लेकर जो परस्पर प्रचुर कपट-केलिमें कलह कर रहे हैं और जो अपने प्रिय जनोंके दर्प हेतु अतिशय आनन्दित हैं, ऐसे ब्रज-नव-युवद्वन्द्व अर्थात् श्रीराधाकृष्ण जिनके दर्शनीय हो रहे हैं, उन्हीं दान-निर्वर्त्तन कुण्डके तीर पर मेरा निवास हो ॥१॥

निर्जन स्थानमें (इस कुण्डके तट पर) दानकार्य सम्पन्न हुआ था, इसलिये दान-सभामें जो कुण्ड "दाननिर्वर्त्तन कुण्ड" इस नामको प्राप्त हुआ है और जो असिक व्यक्तिके निकट अप्रकाशित हैं तथा वृन्दावनवासी रसिकोंके ही एकमात्र वेद्य हैं, उन्हीं दान निर्वर्त्तन सरोवरके तीर पर मेरा निवास हो ॥२॥

अभिनव मधु-गन्धसे उन्मत्त भ्रमर समूहकी गुञ्जन-ध्वनिसे जिसमें मनोहर पद्मसमूह अतिशय सुन्दर एवं सुशीतल हो रहे हैं और जो नूतन मनोज्ञ पक्षि-समूहकी क्रीड़ा एवं सुमधुर कलरव-ध्वनिसे अतिशय रूपसे चित्तको हरण कर रहे हैं, उन्हीं दान निर्वर्त्तन कुण्डके तीर पर हमारा निवास हो ॥३॥

जिनका जल हिमवत शीतल है और विविध पुष्पोंके सुगन्धसे सुवासित है तथा शृङ्गार-रस द्वारा सुशोभित, सखियोंसे घिरे हुए नव्य युवद्वन्द्व श्रीराधा कृष्णकी अतुलनीय जल-क्रीड़ा को लाभ करनेके सौभाग्यसे जो अतिशय प्रफुल्लित हो रहे हैं, उन्हीं दान-निर्वर्त्तन कुण्डके तीर पर हमारा निवास हो ॥४॥

इष्टत् विकसित पुष्पसमूहोंसे लदे हुए वृक्षराजि दिग्दिगन्तको आमोदित कर रहे हैं और जिनकी शाखाओं पर बैठे हुए पक्षियों एवं भ्रमरोंके कलरवसे समस्त प्राणी प्रसन्न हो रहे हैं, ऐसी वृक्ष-श्रेणियाँ जिस सरोवरके चतुर्दिक् शोभायमान हो रही हैं, उन्हीं दान निर्वर्त्तन कुण्ड के तीर पर हमारा निवास हो ॥५॥

जिस कुण्डके तट पर प्रणयी-नव-सखीगण अपने-अपने भ्रमर-गुञ्जित नव-कुञ्जमें श्रीराधाकृष्ण को प्रविष्ट करा कर अतुलनीय नवरङ्गका विस्तार कर रही हैं, उन्हीं दान निर्वर्त्तन सरोवरके तीर पर हमारा निवास हो ॥६॥

मनुष्य, पशु, पक्षी और गौवें जिनके स्फटिक तुल्य निर्मल और स्वच्छ जलको खूब पेट भर पीकर

शीघ्र ही अपने-अपने गणोंकी अतिशय वृद्धि अनुभव कर रहे हैं, उन्हीं दान निर्वर्त्तन सरोवरके तीर पर हमारा वास हो ॥७॥

गोपचन्द्र श्रीकृष्ण अपने सखाओंसे परिवेष्टित होकर उनसे वार्त्तालाप करते-करते जिनका सुगन्धित सुमधुर और सुशीतल जल गायोंको पिलाकर सखाओंके साथ स्वयं भी पान करते हैं, उन्हीं दान

निर्वर्त्तन सरोवरके तीर पर हमारा निवास हो ॥८॥

जो बुद्धिमान व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर सुविख्यात् महात्म्यशाली कुण्डके इस दान निर्वर्त्तन नामक अप्रकका पाठ करते हैं, वे उक्त कुण्डके तीर पर सुष्ठुरूपसे स्थिर निवास लाभ करके उपयुक्त समयमें श्रीराधाकृष्णकी दानलोला-दर्शनके अधिकारी होते हैं ॥९॥

चातुर्मास्य

शास्त्रोंमें उल्लेख

वेदोंमें जगह-जगह चातुर्मास्य-व्रतका उल्लेख पाया जाता है। इनमें अनेक स्थलोंपर इसे कर्मका अङ्ग माना गया है। धर्मशास्त्रोंमें भी चातुर्मास्य व्रतकी व्यवस्थाका अभाव नहीं है। पुराणोंमें तो इसकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है।

आधुनिक स्मृति सम्बन्धी पुस्तकों और निबन्धोंमें भी चातुर्मास्य-व्रतका अनेक रूपोंमें विधान पाया जाता है। “हरिभक्तिविलास” नामक परमार्थ स्मृतिशास्त्र और रघुनन्दन द्वारा रचित ‘कृत्य तत्त्व’ ग्रन्थमें भी इस व्रतका विधान देख पाते हैं।

कर्मी, ज्ञानी और भक्त सबके लिये चातुर्मास्यका विधान

क्या कर्मी, क्या ज्ञानी और क्या भक्त सबको चातुर्मास्य व्रतका पालन करना चाहिये। कोई-कोई इसे केवल कर्मकाण्डीय व्यापार मानते हैं। परन्तु इनका ऐसा समझना पूर्णतः निराधार है। काठक सूत्रोंमें यतिधर्मका निरूपण करते हुए कहते हैं—

एक रात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् ।

वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥

एकदण्डी ज्ञानीजन और त्रिदण्डी भक्तजन दोनों ही चातुर्मास्यका पालन करते हैं। श्रीशंकरमता-वलम्बियोंमें भी चातुर्मास्य-व्रतकी व्यवस्था है।

चातुर्मास्य-व्रत और श्रीचैतन्य महाप्रभु

भगवान् श्रीचैतन्यदेवने भी कावेरी तट पर स्थित श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें चातुर्मास्यके चार महिने बिताये थे। श्रीगौड़ीय भक्तजन प्रतिवर्ष चातुर्मास्यके दिन श्रीपुरीधाममें श्रीचैतन्यमहाप्रभु के साथ रहकर नियमित रूपमें हरिकीर्तन, हरिचर्चा, वैष्णवसेवा और भगवत् पूजनमें बिताया करते थे।

चारों आश्रमके प्रत्येक हिन्दूके लिये

चातुर्मास्यका विधान

शास्त्रोंमें चारों आश्रमोंके हिन्दूमात्रके लिये चातुर्मास्य-पालनकी व्यवस्था दी गयी है। किन्तु बहुत ही कष्टसाध्य होनेके कारण ये प्राचीन रीतियाँ

समाजके क्षेत्रसे क्रमशः दूर होती जा रही हैं। यद्यपि कर्मी और भक्त सम्प्रदायमें व्रतोंके पालन करनेकी विधियाँ कुछ-कुछ भिन्न हैं, तथापि प्रत्येक हिन्दू इन व्रतोंके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और आदरका भाव रखता है।

चातुर्मास्यमें भोगोंका त्याग ही आदर्श है

इस व्रतमें समस्त प्रकारके भोगोंका सर्वथा त्याग करना ही विधि है। कर्मी, ज्ञानी और भक्त—इन सभी समाजोंके लोग त्यागको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। परन्तु किसी समाजमें यह श्रद्धाका भाव कुछ अधिक होता है और किसी समाजमें कुछ कम। अतः इन तीन पथोंमें विचरण करने वाले आर्यगण अपने चारों आश्रमोंमें ही चातुर्मास्य व्रतका सम्मान करते हैं। जो अत्यन्त असमर्थ होते हैं, वे इतने दीर्घकाल तक इन कठोर नियमोंके अधीन रहना लाभदायक नहीं मानते। इसलिये वे इन व्रतोंके पालनमें शिथिलता प्रदर्शन करते हैं।

गृहस्थके भोगोंके विधानका उद्देश्य— त्याग से है

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमोंमें भोगका तनिक भी आदर नहीं है। केवल गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें किञ्चिन्मात्र भोगोंका विधान देखा जाता है। किन्तु वास्तवमें इन लोगोंके लिये निर्दिष्ट भोगोंका उद्देश्य भी त्याग ही होता है। जिन लोगोंके लिये चारह महीनोंमें से आठ महीने तक गृहस्थ-धर्म पालन करनेकी विधि दी गयी है, उन्हें चार महीने तक भोगोंसे सर्वथा दूर रह कर अन्य तीन आश्रमवासियोंके संगमें बिताना ही उचित है।

जो चार महीनों तक नियमसेवा पालन करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें उर्जा-विधि अर्थात् कार्तिक व्रतका अवश्य ही पालन करना चाहिए। कोई-कोई भक्त चातुर्मास्यके चार महीनों तक नियमित रूपमें विधियोंके पालनमें अपनेको असमर्थ पाकर केवल-मात्र दामोदर व्रतका ही पालन करते हैं। उनको ऐसा करते देखकर कोई-यह न समझें कि भक्तोंके लिये चातुर्मास्य व्रत पालन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वैसा आचरण केवलमात्र असमर्थ व्यक्तियोंके लिये ही अनुकूल विधिमात्र समझना चाहिए। चार मास तक नियमसेवाके अधीन रह कर भगवत्सेवा करनेसे मनकी निसर्गतः धमके प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है।

चातुर्मास्यका समय-निरूपण

चातुर्मास्यका समय निरूपण करते हुए वाराह पुराणमें लिखते हैं—

आषाढ शुक्ल द्वादश्यां पूर्णिमास्यामथापि वा ।
चातुर्मास्य-व्रतारंभं कुर्यात् कर्कट-संक्रमे ॥
अभावे तु तुलाकेंद्रपि मंत्रेण नियमं व्रती ।
कार्तिके शुक्लद्वादश्यां विधिवत्त् समापयेत् ॥

चातुर्मास्यकी गणना तीन प्रकारसे होती है—

(१) आषाढ मासकी शुक्ला द्वादशीसे कार्तिक मासकी शुक्ला द्वादशी तक चार चान्द्रमास, (२) आषाढ की पूर्णिमासे कार्तिककी पूर्णिमा तक चार चान्द्रमास और (३) कर्कट संक्रान्ति अर्थात् सौर श्रावण माससे और कार्तिक मास तक चार मास। इन तीनोंमें से किसी एकके अनुसार चार महीनों तक इसके नियमोंका विधिवत् पालन करनेमें असमर्थ होने पर कार्तिक मासमें एक महीने भर अपने इष्टमंत्रके जप

आदि नियमोंकी विधिका पालन करना उचित है। विशेषतः उर्जव्रतका पालन करना आवश्यक कर्त्तव्य है, क्योंकि उर्जव्रतको ६४ प्रकारकी भक्तिका एक अङ्ग माना गया है। कार्तिक शुक्ला द्वादशीको उर्जव्रतकी समाप्ति कर देनी चाहिए अर्थात् २५ दिनों तक तो अवश्य ही इस व्रतका पालन करना चाहिए।

हरिशयनकालमें चातुर्मास्य-व्रत पालन न करनेका परिणाम

श्रीभगवान् वर्षाके चार महीने शयन करते हैं। इस शयनकालमें कृष्ण-सेवाकी प्रवृत्तिको क्रमशः बढ़ानेके लिये चातुर्मास्य-व्रत पालन करना चाहिए। यह एक नित्य व्रत है। इस व्रतका पालन नहीं करनेसे पाप लगता है।

इत्याश्वास्य प्रभोरग्रं गृह्णीयान्नियमं व्रती ।
चातुर्मासेषु कर्त्तव्यं कृष्णभक्तिविवृद्धये ॥

(हरिभक्तिविलास १५।५६)

अर्थात् व्रती व्यक्ति 'हे जगन्नाथ ! आपके शयन करने पर यह सारा जगत सोता है और आपके जगने पर जगता है। हे अच्युत ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों—भगवान्के आगे इस प्रकार प्रार्थना कर कृष्णभक्तिकी वृद्धिके लिये इन चार महीनों तक नियम सेवाका व्रत ग्रहण करना चाहिए।

यो विना नियमं मत्स्यो व्रतं वा जप्यमेव वा ।
चातुर्मास्यं नयन्मुखो जीवन्नपि मृतो हि सः ॥

(हरिभक्तिविलास १५।६०)

अर्थात् जो व्यक्ति कोई नियम या व्रत धारण किये बिना अथवा जपादिसे रहित होकर चातुर्मास्यका

समय यों ही बिता देता है, वह मूर्ख व्यक्ति जीवित रह कर भी मरेके समान है।

व्रतमें ग्रहणीय और वर्जनीय बातें

व्रतके पालनीय विधियोंके सम्बन्धमें स्कन्द पुराणमें कहा गया है—

जप-होमाद्यनुष्ठानं नाम-संकीर्तनस्तथा ।

स्वीकृत्य प्राचयेद्देवं गृहीत नियमो बुधः ॥

(हरिभक्तिविलास १५।६५)

अर्थात् व्रतको धारण करनेवाले बुद्धिमान व्यक्ति होम आदिका अनुष्ठान और श्रीनाम संकीर्तन करेंगे। उन्हें भगवान्के निकट ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे देव ! मैं आपके सामने यह व्रत धारण कर रहा हूँ। हे केशव ! आप ऐसी कृपा करें; जिससे मेरा यह व्रत बिना किसी विघ्न-बाधाके सिद्ध हो जाय।'

अब इस व्रतकी वर्जनीय बातोंका उल्लेख करते हैं—

श्रावणो वर्जयेत् शाकं दधि भाद्रपदे तथा ।

दुग्धमाश्वयुजे मासि कार्तिके चामिषं त्यजेत् ॥

(ह. भ. वि. १५।६१ घृत स्क. पु.)

चातुर्मास्यके प्रथम भागमें अर्थात् श्रावण मासमें शाक, भाद्रमें दधि, आश्विनमें दुग्ध और कार्तिकमें मांस जातीय पदार्थोंका परित्याग करना चाहिए। कोई-कोई शाकसे, पकाए हुए व्यंजनोंको समझते हैं। सारांश यह कि समस्त प्रकारके भोगोंको त्याग कर निरन्तर हरिसंकीर्तन करना चाहिए।

"रुच्यं तत्तत्काल सभ्यं फलमूलादि वर्जयेत् ॥"

समयोचित फल-मूल कन्द आदि खानेसे जीवन धारण तो होता है, परन्तु अधिक मात्रामें इनका सेवन करनेसे भगवत् स्मृति मन्द हो जाती है तथा जड़ विषयोंमें अतिशय आसक्ति बढ़ जाती है। इसलिये चातुर्मास्यमें इन सबका परित्याग करके संयत होकर हरिकीर्तन करना चाहिए।

एक ही साथ नाना-प्रकारके त्याग संभव नहीं हैं। अतः समर्थ-वानोंके लिये अधिक-से-अधिक जितना त्याग संभव हो उतना ही अच्छा है। कर्मियों लोकोमें विषय-भोगकी लालसा अधिक होती है। इसीलिये विषय भोगकी लालसाके त्यागका शास्त्रोंमें बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। सारांश यह कि त्याग द्वारा विषयोंके प्रति आसक्ति कुछ संकुचित होने पर भगवदनुकम्पाका सुयोग उपस्थित होता है। आत्म-धर्म या नित्य भगवत् सेवन-धर्मको प्रस्फुटित करनेके लिये अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल शरीर और मनका धर्म जितना ही अधिक संकुचित किया जा सके, उतना ही मंगलजनक होगा, साधकका हरि-सेवामें उतना ही अधिक उत्साह बढ़ता जायगा।

विधि

चातुर्मास्यके दिनोंमें जमीन पर सोना चाहिए, पत्तलमें भोजन करना चाहिए। प्रतिदिन स्नान अवश्य करना चाहिए तथा नियमसे रह कर भगवानकी प्रतिदिन विधिवत् पूजा करनी चाहिए।

व्रतीको योगका अभ्यास करना चाहिए। समस्त प्रकारके भोगोंमें भक्तियोग श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्ति आत्माकी नित्यवृत्ति है। राजयोग अर्थात् ज्ञानयोग—मनकी एक अनित्य वृत्ति है तथा कर्मयोग या

इष्टयोग—शरीर और मनकी मिश्रित एक दूसरी अनित्य वृत्ति है। अतः भक्तियोगका अभ्यास ही श्रेयस्कर है।

इन चार महीनों तक मौन-व्रत अवलम्बन करनेसे विशेष रूपमें हरिकीर्तनका सुयोग पाया जाता है। जमीन पर सोने और बिना पात्र भोजन करनेसे हृदयमें एक प्रकारका स्वाभाविक दैन्य उत्पन्न होता है, जो हरिसेवाके लिये बड़ा ही उपयोगी और अनुकूल होता है। चातुर्मास्यकी समस्त विधियोंको अनुकूल कर लेने पर भजनमें अत्यधिक सहायता मिलती है।

इन सब नियमोंके अतिरिक्त नक्त-भोजन (रातमें तारोंको देखकर जो भोजन किया जाता है), पंच-गव्य (गायसे प्राप्त दूध, दही, घृत, गोबर और गोमूत्र) का भोजन, तीर्थ स्नान, अयाचित भोजन, भगवान्के मन्दिरमें संकीर्तन, वहाँ भक्तिशास्त्रोंका पठन-पाठन या श्रवण, बिना तेल लगाये स्नान आदि विधियोंका नियमपूर्वक पालन करना चाहिए।

निषेध

व्रतके दिनोंमें सेम, बरबटी, परवल, बैंगन, लौकी, बासी और दूषित अन्नका परित्याग करना चाहिए। समर्थ-व्यक्तिको नमक, तेल, मधु और पुष्पोंका उपभोग, कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर, चार, काषाय आदि रसोंको त्याग देना चाहिए। प्याज, लहसुन, नागरमोथा, छत्री, गाजर, मूली, लौकी, मसूर, मद्य, मांस और ताम्बूलका वर्जन करना चाहिए। हो सके तो पकाए हुए द्रव्योंका भोजन और मिट्टीके बर्तनोंमें पकाये भोज्य पदार्थोंका भोजन न

करना चाहिए तथा दूध-दही और मक्खनका भी परित्याग कर देना चाहिए। एक दिन अन्तर एक दिन उपवास करना उत्तम है। नख और केश आदि कटवाना नहीं चाहिए; क्योंकि इनसे विलासता बढ़ती है।

शास्त्रोंमें चातुर्मास्यका बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। किन्तु ये समस्त फल उन कर्मियोंको भक्तिकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये ही कहे गये हैं, जो सर्वदा कर्मफलमें आसक्त रहते हैं तथा भगवद्भक्तिके प्रति उदासीन रहते हैं। जिस प्रकार एक रोगी बालकको लड्डूका लोभ दिखलाकर दवा दी जाती

है, ठीक उसी प्रकार कर्मकारणमें आसक्त व्यक्तियोंको बड़े-बड़े फलोंका लोभ दिखलाकर भक्ति मार्गमें क्रमशः प्रवेश कराया जाता है। ज्ञानी और भक्तोंको लौकिक और भक्तोंको लौकिक और पारलौकिक (स्वर्ग) किसी भी फलकी कामना नहीं होती। भक्तोंको तो ज्ञानियोंके काम्य मुक्ति-फलकी भी कामना नहीं करनी चाहिए। भगवद्भक्ति होने पर मोक्षकी वासना भी अत्यन्त घृणित प्रतीत होने लगती है। सम्पूर्ण रूपसे विशुद्ध कृष्णसेवाकी प्राप्ति ही चातुर्मास्यका चरम फल है।

—ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

प्रश्नोत्तर

(श्रीकृष्ण तत्त्व-३)

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ११, संख्या २, पृष्ठ ३५ से आगे]

(४०) निराकार और चिदाकारका स्वरूप क्या है ?

“वेदशास्त्रके मतसे भगवानका सच्चिदानन्द-विग्रह नित्य है। निराकार धर्म प्राकृत सत्त्वगुणके विपरीत विकार-विशेष है अर्थात् जड़ आकारका निषेधक भाव-विशेष है। प्रकृतिसे परे जो चिन्मय विग्रह हैं, उनका आकार भी चिन्मय है। मायिक सत्त्वका निराकारत्व उनको स्पर्श नहीं कर सकता।”

—अ. प्र. भा. म. ६।१६६-६७

(४१) परमेश्वरके सम्बन्धमें निराकार और साकार ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक ही साथ कैसे सत्य हो सकती हैं ?

“साकार और निराकारको लेकर विवाद करना व्यर्थ है। परमेश्वरका भौतिक आकार नहीं है; परन्तु पंचभूतसे परे अप्राकृत तत्त्वमय विभुका (परमेश्वरका) अप्राकृत सच्चिदानन्द विग्रह केवल भक्तजन ही देख सकते हैं। इस विषयमें सिद्धान्त यह है कि प्राकृत नेत्रोंके लिये परमेश्वर निराकार हैं और अप्राकृत नेत्रोंके लिये वे साकार हैं। अतएव उनका दोनों स्वरूप ही स्वीकृत हैं।”

—त. सु. ४ सूत्र

(४२) भगवान एक ही समय सर्वव्यापी और साकार कैसे हो सकते हैं ?

“विचित्र और अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे भगवान

एक ही समय सबव्यापी और चित्साकार दोनों रह सकते हैं। केवल ब्रह्मेतर पदार्थों अर्थात् ब्रह्मको छोड़कर दूसरोंके लिये ऐसा होना असंभव है।”

—त. सू. ४ था सूत्र

(४३) भगवान् क्या जीव द्वारा निर्मित विधिके अधीन हैं या स्वकृत विधिके अधीन हैं ?

“शारीरिक नियम यह है कि हाथ भरकी रस्सीमें एक हाथ दूसरी रस्सीका संयोग करनेसे दो हाथ ही होगी, वह कभी तीन हाथकी नहीं होगी। परन्तु भगवान् इन नियमोंके बाध्य नहीं हैं। वे विधियोंके विधाता अर्थात् बनाने वाले हैं; अतएव स्वकृत विधियोंके अधीन या बाध्य नहीं हैं।”

—त. सू. ४ सू.

(४४) क्या परमेश्वर देश - कालके अधीन तत्त्व हैं ?

“Our ideas are constrained by the idea of space and time, but God is above that constraint.”

—The Bhagabata; Its Philosophy; Its Ethics & Its Theology.

(४५) साकार और निराकारका विवाद कब दूर होता है ?

“सात्त्वत-तत्त्व—समस्त सम्प्रदायसे अतीत है। अतएव साकार-निराकार रूप विवादमें सारग्राही व्यक्तियोंको कदापि लिप्त नहीं होना चाहिये। भक्तिका उदय होनेसे ही मनुष्यकी बुद्धि वृत्तिमें उभयात्मक परमेश्वर प्रतीत होंगे।”

—त. सू. ४ सू.

(४६) श्रीकृष्णका असमोद्धर्षत्व क्यों हैं ?

“सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीकृष्णमें ६४ गुण सम्पूर्ण रूपसे शुद्ध चिन्मयरूपमें नित्य देदीप्यमान हैं। शेषोक्त चार गुण केवल श्रीकृष्ण - स्वरूप व्यतीत उनकी किसी विलास मूर्त्तिमें भी नहीं हैं। इन चारों गुणोंको छोड़ कर बाकी ६० गुण सम्पूर्ण रूपसे चिद्घन विग्रह परव्योमपति नारायणमें देदीप्यमान हैं। ६४ गुणोंमें से शेषोक्त नौ गुणोंको छोड़ कर अवशिष्ट ५५ गुण अंश - अंशरूपमें शिव आदि देवताओंमें विद्यमान हैं। प्रथमोक्त ५० गुण बिन्दु-बिन्दु रूपमें समस्त जीवोंमें परिलक्षित होते हैं। शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश और इन्द्र—ये उन्हीं भगवान् के अंश, गुण - विशिष्ट, जगत् व्यापारमें अधिकार प्राप्त भगवद्विभूतिरूप अवतार विशेष हैं। स्वरूपतः वे सभी भगवान्के दास हैं। उनकी कृपासे अनेकों व्यक्तियोंने शुद्धभक्ति लाभ किये हैं।”

—जैव-धर्म १३वाँ अध्याय

(४७) श्रीकृष्ण अपने शरणागत भक्तोंकी दृष्टिमें किस रूपमें होते हैं ?

“सदा शुद्ध सिद्धकाम, भक्त वत्सल नाम,
भक्तजनैर नित्य स्वामी ।
तुमि त' राखिवे जारे, के तारे मारिते पारे,
सकल विधिर विधि तुमी ॥”

—शः

(४८) श्रीकृष्ण लीलामय क्यों हैं ?

“श्रीकृष्ण—परम तत्त्व, तारै लीला—शुद्धसत्त्व,
माया जार दूरस्थिता दासी ।
जीव प्रति कृपा करि, लीला प्रकाशिता हरि,
जीवेर मङ्गल अभिलाषी ॥

—श्रीरूपानुग-भजन-दर्पण २८ गी. मा.

(४६) परब्रह्मके अप्राकृत स्वरूपके सम्बन्धमें वैदिक प्रमाण क्या है ?

“बहु म्याम्” (तै. ब्र.—६अ.) इत्यादि श्रुति-मंत्रोंके अनुसार जब भगवानने अनेक होनेकी इच्छा की उस समय “म ऐच्छत्” (ऐतः उ. —११) इम मंत्रके अनुसार जिन्होंने प्राकृत शक्तिके प्रति दृष्टिपात किया । उस समय तक प्राकृत मन और नेत्रकी सृष्टि नहीं हुई थी । इसलिये भगवानने जिस मनसे चिन्तन किया था और जिन नेत्रोंसे प्रकृतिके प्रति ईक्षण किया था, वह मन और वे नेत्र प्राकृत-सृष्टिसे पूर्व भी विद्यमान थे । अतएव परब्रह्मका मन और उनके नेत्र स्वरूपतः अप्राकृत थे—यह सर्ववेद-सम्मत है ।”

—अ. प्र. भा. म. ६।१४।१४८

प्रश्न ५०—भगवानके छः प्रकारके ऐश्वर्योंमेंसे अङ्ग-अङ्गीका विचार किस प्रकार है ? निर्विशेष ब्रह्म क्या स्वयं सिद्ध तत्त्व हैं अथवा आपेक्षिक हैं ?

“समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यशः, समग्र श्री अर्थात् सौन्दर्य, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य— इन छः अचिन्त्य गुणोंसे विशिष्ट तत्त्व स्वरूप भगवान हैं । ये गुणसमूह परस्पर अङ्ग-अङ्गी रूपमें

विन्यस्त हैं । इनमेंसे कौन अङ्गी है ? और कौन-कौन अङ्ग है ? यह विचार करना है । अङ्गी उसे कहते हैं जिसमें अङ्ग-समूह न्यस्त होते हैं । जैसे—वृक्ष अङ्गी है और डाल और पत्ते उसके अङ्ग हैं; शरीर अङ्गी है और हाथ, पैर आदि अङ्ग हैं । इसी प्रकार ये गुणसमूह अंगके रूप जिसमें अवस्थित होते हैं, वही अङ्गी है । श्रीभगवानके चिन्मय विग्रहमें “श्री” ही अङ्गी है और दूसरे गुण-समूह अङ्ग हैं । ऐश्वर्य, वीर्य, यशः—ये तीन अङ्ग हैं । ज्ञान और वैराग्य यशः से ज्योतिः स्वरूप निकलते हैं; अतः ये अङ्गके किरणें हैं । ये गुणके गुण हैं—स्वयं गुण नहीं हैं । निर्विकार ज्ञान ही ज्ञान और वैराग्यके रूपमें प्रति-भात होता है, यही ब्रह्मका स्वरूप है । अतएव ब्रह्म—चिन्मय ब्रह्माण्डकी अङ्ग-कान्ति हैं । निर्विकार, निष्क्रिय, -निरवयव, निर्विशेषब्रह्म स्वयं सिद्ध-तत्त्व नहीं हैं—वे श्रीविग्रहके आश्रित-तत्त्व हैं । अग्निका प्रकाशगुण स्वयं सिद्ध - तत्त्व नहीं है; बल्कि वह अग्निके स्वरूपके ऊपर आश्रित उसका एक गुणमात्र है ।”

—जैव-धर्म १३वाँ अध्याय

—जगद्गुरु श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

श्रीश्रील आचार्यदेवका भाषणा

(पूर्व प्रकाशित वर्ष ११, संख्या २, पृष्ठ ४६ से आगे)

असुर कौन हैं ?

यदि हमें समृद्ध और उन्नत होना है, यदि हम सुख और शान्ति चाहते हैं, तो हमें संस्कृत भाषा अपनानी होगी। संस्कृत भाषाके ज्ञानसे ही अँग्रेजी शिक्षा भी उन्नत हो सकती है। पश्चात्य शिक्षामें कोई चाहें जितना भी शिक्षित क्यों न हो, उसे हम शिक्षित नहीं कह सकते, यदि उसने संस्कृत शिक्षा प्राप्त न की हो। हमारे देशमें प्राचीन शिक्षाका अवश्य प्रचलन हो सकता है। संस्कृत शिक्षाके द्वारा ही देश में वास्तविक शान्ति हो सकती है। यही शिक्षा सनातन शिक्षा है। जो शिक्षा अनादिकालसे चली आ रही है और चलेगी वही शिक्षा सनातन-शिक्षा है।

हम चाहते हैं कि हमारी उपास्य वस्तु चिरकाल तक रहें। जहाँ उपास्य, उपासना और उपासक इन तीनोंका नित्यत्व और सनातनत्व स्वीकार किया गया है, वहीं पर सनातन धर्मका यथार्थ अस्तित्व है। जहाँ इन तीनोंमें से किसी एकको भी अनित्य माना गया है, वहीं सनातन-धर्मके ऊपर आघात हुआ है। आजकल हमारे देशमें इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि धर्मोंको सनातन-धर्ममें प्रवेश कराकर एक Compromise (समन्वय) करनेकी चेष्टाकी जा रही है। Compromise (समन्वय) करनेके लिये कुछ असत् वस्तुको प्रहण करना होगा और कुछ सत् वस्तुका परित्याग करना होगा। परन्तु

ऐसा करना असम्भव है। Half truth is no truth (आधा सत्य सत्य नहीं है)। यह एक साधारण विज्ञान है।

प्राचीनकालमें हमारे देशका समाज धर्मके अनुगत होता था। आजकल उसके ठीक विपरीत हो गया है। कोई यदि शिक्षा (चोटी) रखें, तो आजकलके छात्र उसे काट देनेका प्रयास करते हैं। इसीलिये मननीय विचारपतिसे मेरी यही प्रार्थना है कि यदि उनके पास ऐसा कोई Case (घटना) आवे, तो उसका उचित विचार करेंगे। सनातन किसे कहते हैं? उसका Principle (मूलगत विचार) क्या है?—यह जानना आवश्यक है। जो चिन्तास्रोत असत्, असनातन और अनित्य है, उसीके द्वारा आजकल सनातनी शिक्षा देनेका असफल प्रयास चल रहा है। यह नितान्त ऋषेध एवं आसुरिक चेष्टा है।

मैं सेवकके रूपमें आप लोगोंसे दीनतापूर्वक एक बात कहना चाहता हूँ। इस मन्दिरमें श्रीविप्रहृण विराजमान हैं। भगवत्-सेवा न करनेसे परामुक्ति या परममुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परामुक्ति लाभ करनेके लिये शक्ति और शक्तिमान कौन हैं—यह जानना होगा। श्रीमती राधिका मूल आद्याशक्ति हैं और कृष्ण शक्तिमत्त्व हैं। केवल शक्ति अथवा शक्तिमानकी उपासना आंशिक उपासना है—पूर्ण

उपासना नहीं है । शास्त्रोंमें रावणको दैत्य, दानव और राक्षस कहा गया है । उसका क्या अपराध था ? वह तो एक ऋषिका पुत्र था । रावणका प्रधान दोष था—वह शक्तिको नहीं मानता था । उसका यह विचार था कि भगवानकी शक्तिको हरण करो, शक्तिमान रामचन्द्र चाहें रहे या न रहे । जिस देशमें शक्तिको नहीं माना जाता, वह देश असुरोंका देश है । इसलिये भगवान रामचन्द्रजीने रावणका वध किया था ।

इसीके दूसरे पहलू पर भी विचार करें । महा-भारतमें देखा जाता है कि कई लोगोंने शक्तिको छोड़कर शक्तिमानको उड़ा देनेकी चेष्टा की थी । यही कारण है भगवान कृष्णने कंसका वध किया ।

भगवानकी लीलासे सम्बन्धित इस विचारको छोड़कर एक युक्ति पर ही विचार करें । नित्य-धर्म किसका है—ईश्वरका अथवा जीवका ? यदि मैं ब्रह्म हो जाऊँ, तो मेरी सत्ता नहीं रहती । वहाँ मेरी सत्ता नष्ट हो जायगी । जिस प्रकारसे एक ग्लास पानी समुद्रमें फेंक देनेसे ग्लासके पानीका पृथक् रूपमें कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार उपास्य, उपासना और उपासक का नित्यत्व न रहनेसे वह सनातन अथवा नित्य-धर्म नहीं रह जाता । हमारे देशमें अनेक धर्म-ग्रन्थ हैं, परन्तु उनमें बहुत-सी अनावश्यक बातोंको भी प्रविष्ट करा दिया गया है । हमारे देशकी यह एक सामाजिक रीति है कि बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदिके आने पर घरमें गोबर छीटा जाता है । कारण और कुछ नहीं—केवल दुःसंगवर्जनके लिये । भागवतकी भी यही शिक्षा है—“ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सन्सु सञ्जेत बुद्धिमान्” जो व्यक्ति मन्दिर-विरोधी है, विप्रद-

विरोधी है, हम उन्हें अपना आदर्श न मानेंगे । कोई बड़े कवि कहते हैं—मन्दिरमें भगवान नहीं हैं वे तो तो मैदानमें हैं । ऐसी चिन्ता सनातन धर्मकी विरोधी है । ऐसी बातें हमें न मानना चाहिये और न सुनना ही चाहिये । यदि कोई निराकारवाद प्रचार करने आयें उन्हें हमारे पास भेज देंगे । हम बाइबिल कुरान आदिसे दिखला देंगे कि उनका विचार भ्रान्त है । इन सभी ग्रन्थोंमें भगवानके नर रूपको स्वीकार किया गया है । इन धर्मोंके व्यक्ति अपने-अपने शास्त्रों की उपेक्षा कर हमारे देशमें निराकारवादका प्रचार करना चाहते हैं । इससे अश्लीलता ही बढ़ती है ।

भक्ति उपाय और उपेय है । क्या हम चिरकाल तक उपासना करते रहेंगे ? हाँ, हम चिरकाल तक उपासना अभी करते हैं और नित्यकाल करेंगे । आप लोग मेदिनीपुरके निवासी हैं । यहाँ के लोग स्वाभाविक रूपसे श्रीमन्महाप्रभुजी के अनुगत होते हैं । अतएव आप लोग महाप्रभुजीके विरुद्ध चिन्ता-धारा को प्रहण न करेंगे ।

मैंने बहुत-सी कड़वी बातें कही हैं । उसका उद्देश्यसे आप लोगोंको आघात प्रदान करना नहीं है, बल्कि आपका मंगल करना है । बगीचेके चारों ओर कांटेके तार द्वारा घेरनेसे बिना परिश्रम ही फल प्राप्त हो जाता है । मेरी वक्तृता भी ऐसे ही काँटोंकी चहारदिवारी है । आपको भक्तिरूप बगीची में अन्य चिन्ता रूप पशु प्रवेश नहीं करेगा । यदि प्रवेश करनेकी चेष्टा भी करे, तो उसके अङ्गोंमें ये काँटेके तार चुभकर उसे प्रवेश नहीं करने देंगे । कोई भी पार्थिव विज्ञान श्रीमन्महाप्रभुके दर्शनके निकट नहीं पहुँच सकता ।

पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ क्यों हैं ?

हम मनुष्य ऐसा सोचते हैं कि हम दूसरे प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं। हमारे अन्दर ऐसा सोचनेकी स्वाभाविक वृत्ति सी जान पड़ती है। यद्यपि हम ऐसा सोचते हैं, फिर भी कुछ विषयोंमें हम पशुओंसे भी गिरे हुए हैं। आजकल स्वाधीन भारतमें ऐसी शिक्षा दी जाती है कि भारतवासी नीच, घृणित और हेय थे और हैं। यह शिक्षा हम पर जबर्दस्ती लादी जा रही है। हमारे देशके ऋषियोंके नाम तक हम नहीं जानते, परन्तु मुसलमान राजाओं और अंग्रेजोंके विषयमें खूब जानते हैं। आजकलके स्कूलोंकी पाठ्य पुस्तकोंमें लिखा हुआ है—“पाश्चात्य देश सभी विषयोंमें उन्नत हैं और भारतवासी चिरकालसे पतित हैं।” ऐसी चिन्ताधाराके द्वारा हमारी कैसी दुर्दशा होगी, इसका एक छोटासा बच्चा भी अनुमान लगा सकता है। ऐसी शिक्षासे हम मनुष्य नहीं, बल्कि पशु ही बन रहे हैं और बनेंगे। हम मनुष्य हैं, अतएव हमें ऐसी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं है।

काल-विचार

कलियुग उपस्थित हो गया है। ‘कलि’ शब्दसे वर्तमान कालका निर्देश किया गया है। ऋषियोंने बड़े सूक्ष्म रूपमें कालका विचार किया है। उनके विचारका आधार क्या है ? जागतिक परिस्थितियाँ अथवा मनुष्योंका मनोगत भाव ? चार-पाँच हजार वर्षोंके बाद मनुष्योंके मनोगत भाव कैसे होंगे, इस पर Research (अनुसन्धान) कर ऋषियोंने एक ठोस विचार और सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

उन्होंने जो कुछ कहा है वह ठीक ठीक देखनेमें आता है। आजकलके तथाकथित महापुरुषोंके विचार चार-पाँच वर्षोंके भीतर ही बदल जाते हैं। कोई ऐसा कह सकते हैं कि कालकी गति ही ऐसी है। परन्तु हमारे ऋषियोंने इसका भला-भाँति विचार किया है। भारतवर्ष पृथ्वीमें सर्वापेक्षा चिन्ताशील देश है। हर व्यक्तिको आज न कल आर्यऋषियोंकी विचारधाराको ग्रहण करना ही होगा। यदि ऋषियोंकी विचारधाराके साथ आधुनिक विचारधारामें कोई विरोध देखा जाय, तो ऐसी आधुनिक विचारधाराका हम अवश्यमेव परित्याग करेंगे। हम लोग वर्तमान अज्ञ व्यक्तियोंके विचार पर नहीं चल सकते। आर्य ऋषियोंके विचार पर चलेसे हम ठीक मार्ग पर पहुँच सकते हैं। अज्ञ लोगोंके विचार पर चलकर ठगे जायेंगे और ठगे भी जा रहे हैं।

आजकलकी शिक्षामें कोई निश्चित धारा नहीं है। मनुष्योंकी चिन्तामें कोई प्रगति भी नहीं है। चिन्ताशील व्यक्ति यह देख सकते हैं कि आधुनिक भारतीय समाजकी विशेषकर बंगालकी विचारधाराकी कितनी अवनति हुई है। यदि हम आर्यऋषियोंकी बात मानें, तो सोनेका भारत हीरेका भारत बन जायगा।

समाजके प्रधान व्यक्तियोंका कर्तव्य

जन्म देनेसे ही पिता नहीं हुआ जाता। पिताके कुछ कर्तव्य होते हैं। प्रामकी उन्नति किस प्रकार होगी, उस विषयमें गाँवके सभी पिता मिलकर विचार करें। आजकल किसी एक अञ्चलके व्यक्तिको ही प्रधान बनाया जाता है। यह एक ध्वंसात्मक

कार्य है। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि कार्योंके द्वारा अर्थ की उपलब्धि हो सकती है; परन्तु मनोगत भावोंकी उन्नति नहीं हो सकती। मनोगत भावको कैसे उन्नत किया जा सकता है, यह सर्वप्रथम विवेचनीय है। नेता या मुखिया उसे बनादेंगे, जो वच्चोंको नीतिशिक्षा दे सके। महाप्रभुजीने सत्यराज खानसे कहा था कि इस गाँवका एक कुत्ता भी भगवद्भक्त है, वह मेरा प्रिय है। महाप्रभुजीने इस गाँवकी खूब प्रशंसा की है। युधिष्ठिरके कुत्तेकी बात आप लोग जानते ही होंगे। कुत्तेमें Sagacity (सूक्ष्मबुद्धि) होती है। ये कुत्ते वैष्णवोंके उच्छिष्ट सेवन करनेका सुयोग पाते हैं। यही विचार हमें सर्वापेक्षा उन्नततम जीवन गठन करनेमें सहायता करेगा। उसके लिए मनुष्य होना होगा। मनुष्य ही सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ है। परन्तु केवल ऐसा मनमें सोचनेसे ही काम न चलेगा। हम क्यों बड़े हैं, किस विषयमें बड़े हैं?—यह विचार आर्य ऋषियोंकी शिक्षासे ग्रहण करना होगा। जो मनुष्य नहीं है, उनके साथ तुलना कर इस विचारको ऋषियोंने परिष्कृत किया है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चार बातें सभी प्राणियोंमें Common factor (समान रूपसे वर्तमान) हैं। आप लोग गम्भीरता से विचार करके देखें कि आप लोग उक्त चारों बातोंसे कहाँ तक ऊपर उठे हुए हैं। ईश्वरोपासनारूप धर्म ही मनुष्यत्वका मापदण्ड है। इसे स्थूल विचारों द्वारा समझा नहीं जा सकता। अतएव अपने धर्मकी उन्नतिकी चेष्टा हमारी शिक्षा है। प्रादेशिकता, राजनीति इत्यादि स्वाभाविक Intuition (सहज-ज्ञान) पशुओंमें भी वर्तमान है।

महाप्रभुजीका दान

धर्म इन सभी साधारण विचारोंसे बहुत ऊपर है। श्रीमन्महाप्रभुजीने हमें इसी असाधारण धर्मकी शिक्षा दी है। उन्होंने जो वस्तु दान किया है, उस ओर सभीको direct (आकर्षण) करेंगे।

विभिन्न सिद्धान्तोंके कारण बहुतसे ईश्वर नहीं हैं

ईश्वर चिन्ता ही हमारी Primary duty (पहला कर्त्तव्य) है और दूसरे सब कार्य secondary (गौण) हैं। ईश्वर-चिन्तामें विभिन्न तारतम्य विद्यमान हैं। भगवान all inclusive (सर्वतः पूर्ण) हैं। इसलिए कोई भी चिन्ताधारा उनके आंशिक गुणोंको ही प्रकाशित करती है। पर ईश्वर एक ही हैं। भारत एकेश्वरवादी देश है। विभिन्न चिन्ताशील व्यक्तियोंने अपनी-अपनी योग्यतानुसार ईश्वरका चिन्तन कर विभिन्न सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। इसलिए ईश्वर बहुत नहीं हैं। ये सिद्धान्त-समूह अलग-अलग ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका परिचय न देकर केवलमात्र आंशिक गुणोंको ही प्रकाशित करते हैं।

हमलोग केवल खाने-पीनेकी ही चिन्ता करते हैं। इसलिए मनुष्यत्वका Research (अनुसन्धान) कम होता जा रहा है। पहले भारत इस विषयमें गौरव बोध करता था। वर्तमान समयमें हमने इस गौरवको नष्ट-प्राय कर दिया। समग्र जगत्की भी यही अवस्था हो रही है।

सभी लोग धर्मोपदेशक नहीं हो सकते। शास्त्रोंका कहना है—

“धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ।”

महाजन कौन हैं ? शास्त्रमें इसको भी बतलाया गया है । आजकल सुभाषचन्द्र वसु एक महाजन हैं, गान्धीजी भी एक महाजन हैं । परन्तु शास्त्रोंमें केवल द्वादश महाजनोंका उल्लेख है—

‘स्वयम्भुनारिदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥”

(भा० ६।३।२०)

धर्म-जगतके शिक्तकोंको हमें ढूँढना होगा । कौन वहाँ तक पहुँचा है ? कौन उस तत्त्वको जानता है ? यह अनुसन्धान करना पड़ेगा । इसलिये भागवतमें वेदव्यासजी कहते हैं—

“तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।

दान्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम् ॥”

(भा० १।१।२।२१)

पहले गुरु ट्रेनिंग (Guru Training) दी जाती थी । अब उसके बदले बेसिक ट्रेनिंग (Basic Training) दी जाती है । ‘गुरु’ शब्दका उच्चारण करनेसे धर्म करना हो जायगा, इसी भयसे गुरु’ शब्दको हटा दिया गया है । ओफ, कितनी आश्चर्य की बात है ।

कृष्ण-शिक्ताकी ही आवश्यकता है

गुरुके निकट हमें शिक्ता ग्रहण करनी चाहिये । शिक्ता किसे कहते हैं ? यह श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया गया है । गीतामें कृष्ण कहते हैं—
“अक्षराणामकारोऽस्मि” अर्थात् अक्षरोंमें मैं ‘अकार’ हूँ । इसलिये सबसे पहले मुझे जानो, मेरे बारेमें सोखो । तभी सब कुछ जान सकोगे । यहाँ ‘अक्षर’

शब्दका व्यवहार किया गया है । ‘अक्षर’ अर्थात् जो ‘क्षर’ अथवा ध्वंसशील नहीं है—वही निरय है, वही अक्षर है और वही शिक्ताणीय है ।

उपनिषद्में कहते हैं—“एतदक्षरं गार्गी अवि-
दिता योऽस्माल्लोकात् प्रैति स एव कृपणः ।”

शास्त्रोंमें और भी कहते हैं—‘द्वे विश्वे वेदितव्ये
परा चापरा ।”

अतएव विष्णुको जानना ही निखिल शास्त्रोंका सिद्धान्त या उद्देश्य है । दैवज्ञ (देवता) वही हैं, जो विष्णुको—भगवानको जानते हैं, हमने मनुष्य जन्म पाया है । इसलिये जावनको व्यर्थ ही बिताकर नष्ट कहीं करना चाहिये और भी कहते हैं—

“दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः ।

तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥”

इस मनुष्य जन्मसे गिर कर फिर पशुकी योनि में न जाना पड़े, इसके लिये हमें चेष्टा करनी चाहिये ।

स्मार्त-धर्म अपवित्र है

स्मार्त-धर्ममें मनुष्य कभी भी पवित्रता नहीं लाभ कर सकता । क्योंकि जहाँ पर जन्म होनेमें अशुचि (अपवित्रता है, वहाँ मरनेपर भी अशौच (अपवित्रता) का पालन करना पड़ता है । इसलिये यदि किसी मनुष्यका जन्म और मृत्यु दोनोंमें अशौच है तो उसकी पवित्रता कहाँ रही ? श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इस विचारका भ्रम और हेयत्व दिख-
लाया है । शास्त्रयुक्तिसे उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि श्रद्धाके सहित सदा सर्वदा श्रीहरिनाम ग्रहण करना ही मनुष्योंका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ धर्म अथवा परम कर्त्तव्य है ।

देह और मन परस्पर सम्बन्ध युक्त हैं

मृत्युके समय हम जैसी चिन्ता करेंगे, हमें वैसा ही जन्म प्राप्त होगा । मृत्युके समय यदि हम जड़ वस्तुकी चिन्ता करें, तो मृत्युके पश्चात् हमें जड़देहकी ही प्राप्ति होगी । इस तथ्यको अस्वीकार किया नहीं जा सकता । पाश्चात्य दर्शनका भी कहना है— (Face is the index of the mind) अर्थात् मुख ही मनका दर्पण है ।

नलकुवर और मणिप्रीवका यह विचार था कि चेतन वृत्तिको स्तब्ध कर देनेसे (अचेतन कर देनेसे) ही शान्ति मिल सकती है । नारदजीने सोचा— 'यदि ये मनुष्य बने रहें, तो इनकी चेतनताको स्तब्ध किया नहीं जा सकता । अतएव ये दोनों वृत्त बन जाँय । ऐसा सोचकर उन्होंने उन दोनोंको वृत्त होकर जन्म ग्रहण करनेके लिये अभिशाप दिया । हमारे देशके वैद्य अर्जुन वृत्तकी छालसे (Heart Stimulating) हृदय उत्तेजक औषधियाँ बनाते हैं । जो अपने हृदयको स्तब्धीभूत करना चाहते हैं, उनके हृदययंत्रको उत्तेजित करनेके लिये यमलाजुनको वृत्त-योनिमें जाना पड़ा । इसके पश्चात् मनुष्य योनि प्राप्त कर चेतनवृत्तिको पुनः प्राप्त किया था । इसलिये जन्मान्तरवाद् स्वीकार करना पड़ेगा । यही हिन्दु-धर्मका मौलिक तत्त्व है ।

जड़ चेतन नहीं है

जड़ और चेतनमें जो भेद विद्यमान है, उसे पाश्चात्य देशवासी स्वीकार नहीं करते । अतएव वहाँ (Materialistic View) जड़ीय विचार अत्यन्त प्रबल है । पाश्चात्य देशीय लोग जड़वादी

हैं । वास्तवमें जड़ कभी भी चेतन नहीं हो सकता । चेतन - धर्म आगमापायी धर्म नहीं है परन्तु नास्तिक चार्वाकने चेतनको आगमापायी धर्म कहा है । यह अत्यन्त भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है । चेतन-धर्म अगर आगमापायी धर्म होता, तो संसारकी सभी वस्तुएँ चेतन होतीं । परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता । घड़ी चेतन वस्तु नहीं । चेतनका मौलिक-धर्म है— इच्छाशक्ति । जिसमें इच्छाशक्ति नहीं है, वह चेतन नहीं है । इसलिये सभी वस्तुएँ चेतन नहीं हैं । यदि जड़में चेतनकी सत्ता रहती, तो जिस किसी जड़ वस्तुसे ही सब कुछ हो सकता था । परन्तु ऐसा कभी नहीं होता ।

जड़ और चेतनका पार्थक्य समझानेके लिये एक सुन्दर उपाख्यान बतलाया गया है । एकबार यमराजने एक मृत व्यक्तिके लिये शोक करते हुए उमके आत्मीय स्वजनोंको बालकके वेशमें उपदेश प्रदान किया था । इस उपाख्यानसे यही शिक्षा प्राप्त होती है कि चेतन आत्मा देहसे निकल जाने पर देहमें प्राणशक्ति नहीं रहती और चेतन आत्माके साथ जड़देहका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

वैकुण्ठ-सेवा ही मुक्ति है

जहाँ पर वैकुण्ठ-सेवा वर्तमान है, वहीं पर मुक्ति है । जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख इत्यादि जागतिक कुण्ठारहित स्थान ही वैकुण्ठ है । वहाँ केवल चेतनका ही विकास है । उस राज्यमें जड़का विन्दुमात्र भी अस्तित्व नहीं । आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चार विषय हैं । "विषयः खलु सर्वतः स्यात्" (अर्थात् विषय तो पशु आदि सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं)—शास्त्रके इस वचनको हृदयमें धारण पूर्वक विषयोंका परित्याग कर आप सभी उसी मुक्तिका अनुसन्धान करें ।

— श्री वृन्दावनविहारी ब्रह्मचारी कर्त्तक संग्रहीत

सन्दर्भ—सार

तत्त्व-सन्दर्भ (६)

पूर्वोक्त कारणोंसे ऐसा देखा जाता है कि परिच्छेद आर प्रतिबिम्ब प्रतिपादक शास्त्र समूह गौण वृत्ति द्वारा परिच्छिन्न प्रतिबिम्बका आंशिक सादृश्य स्वीकार करके ब्रह्ममें प्रवर्तित हुआ करते हैं अर्थात् “यह मनुष्य सिंह है”—इसमें सिंह शब्दकी मुख्य वृत्ति छोड़ कर गौण वृत्तिद्वारा उस मनुष्यको केवल साहसकी दृष्टि या सादृश्यसे ही सिंह कहा गया है, न कि वास्तवमें उस मनुष्यको सम्पूर्ण रूपमें सिंह कहा गया है; उसी प्रकारसे गौणीवृत्तिके द्वारा ब्रह्ममें परिच्छेद और प्रतिबिम्बका आंशिक रूपमें सादृश्य समझना चाहिये।

स्वयं सूत्रकर्त्ता वेदव्यास द्वारा “अम्बुवदग्रहणत्तु न तथात्वम् ।” इस सूत्रमें गौणता प्रतिपादित हुई है। इस सूत्रका अर्थ है—जिस प्रकार किसी सरोवरके जलद्वारा सरोवरकी भूमिका परिच्छेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म - प्रदेशका भी परिच्छेद हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि “अप्राज्ञो न हि गृह्यते”—इस श्रुति वचनसे ऐसा जाना जाता है कि जो ग्रहण का विषय नहीं है, उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता; इसलिये उपाधिके द्वारा ब्रह्म प्रदेशका ग्रहण ही असम्भव है। अतः ब्रह्मकी उपाधि - परिच्छिन्नता निरस्त हुई। साथ ही जिस प्रकार जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही ब्रह्मका व्यापकत्व हेतु प्रतिबिम्ब स्वीकृत नहीं हो सकता।

दूसरे सूत्र—“वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावाद्बुभय-सामञ्जस्यादेवम् ।” के द्वारा प्रतिबिम्ब और परिच्छेद विधायक शास्त्रोंकी सङ्गति नहीं होती, क्योंकि वे ब्रह्ममें मुख्यवृत्ति द्वारा प्रवर्तित नहीं होते। परन्तु “वृद्धिहास-भाक्त्वम्” वृद्धि-हास-गुणांशको ग्रहण करके केवलमात्र गौणवृत्ति द्वारा ही ये ब्रह्ममें प्रवृत्त होते हैं। जैसे भूमण्डल और छोटा भूखण्ड तथा सूर्य और उसका प्रतिबिम्ब—ये वृद्धि-हासयुक्त हैं अर्थात् भूमण्डल और सूर्यका महत्त्व है तथा छोटे भूखण्ड और प्रतिबिम्बका लुप्तत्व है, उसी प्रकार परमेश्वर और जीव गुणांशके तारतम्यसे अर्थात् सर्वज्ञता और अल्पज्ञता आदि गुणोंके तारतम्यसे वृद्धि-हासयुक्त हुआ करते हैं। ऐसा कहाँ होता है?—“अन्तर्भावात्” इसी प्रकार तारतम्यांशसे ही परिच्छेद और प्रतिबिम्ब प्रतिपादक शास्त्रोंका तात्पर्य है और ऐसा अर्थ होनेसे ही “बुभय-सामञ्जस्यात्” अर्थात् दृष्टान्त भूमण्डल-सूर्यादि और दार्ष्टान्तिक ब्रह्म—इनकी सङ्गति होती है। इस प्रकार पहले सूत्रद्वारा परिच्छेद-प्रतिबिम्बवादका खण्डन हुआ तथा द्वितीय सूत्रसे गौणवृत्ति द्वारा इन दोनों मतवादोंका समन्वय हुआ। जीव-ब्रह्मका खण्ड या प्रतिबिम्ब है—यह वेदव्यास-सम्मत विचार नहीं है; बल्कि मायावादियों का कल्पित मतवाद है।

ईश्वर और जीव दोनों चेतन हैं। इसीलिये

चेतन-अंशमें अभेद है। परन्तु दोनों चेतन होनेपर भी एक प्रकारके नहीं हैं अर्थात् ईश्वर वृद्ध, सर्वज्ञ, स्वाधीन और अबाध ज्ञान हैं तथा जीव अणु, अल्पज्ञ, पराधीन और बाधितज्ञान है। इस प्रकार केवल मात्र चेतनांशमें अभेद होने पर भी ईश्वर और ब्रह्ममें अनेक अंशोंमें भेद देखा जाता है। परन्तु तत्त्वमसि आदि श्रुति वचनोंके समन्वय विचार में केवल चेतनांशके सादृश्यसे गौरुरूपमें अभेदत्व स्वीकृत हुआ है। जीव और ब्रह्म दोनों ही चित् पदार्थ होने पर भी ब्रह्म रश्मि स्थानीय है और जीव परमाणु स्थानीय है। अतएव ब्रह्मको छोड़कर जीव की पृथक सत्ता नहीं है। ब्रह्मसे निकलकर भी जीव संसारी हो पड़ता है। जीव और ब्रह्मका चैतन्य अंशमें कोई भेद न रहने पर भी धिनगारी और अग्निकी भाँति दोनोंमें भेद प्रतीत होता है। गीता में भी जीवको ईश्वरका अंश ही कहा गया है— “ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः”। यहाँ पर ‘सनातन’ शब्दमें जीवकी नित्यता सिद्ध होती है तथा उपाधियुक्त ब्रह्म ही जीव है— इस विचारका खण्डन होता है। वेदव्यासने समाधि अवस्थामें जीव-ईश्वरका सम्बन्ध ऐसा ही देखा था कि ईश्वर मायाके आश्रय हैं और जीव माया द्वारा मोहित हैं। इसके द्वारा ईश्वर और जीवमें भेद दिखलाकर भगवद्भजनके द्वारा जीवोंकी मायासे मुक्तिका वर्णन किया गया है।

अतएव भगवद्भजन मायामोह-निवारक होनेके कारण भगवान ही परम प्रेम-योग्य हैं, क्योंकि वे सबके हितोपदेश और सबके सब प्रकारके दुखोंके

हरणकर्ता हैं। ब्रह्म सूर्य हैं, तो जीव-किरण-परमाणु स्थानीय हैं। जीव जुद्ध हैं और ब्रह्म परम, पूर्ण तथा जीवमें अधिक गुणशाली हैं। अतएव भगवानकी प्रीतिका विधान करना ही जीवका परम प्रयोजन है—यही सिद्धान्तित हुआ।

श्रीमद्भागवत १०।१४।५४ ५५ श्लोकमें कहते हैं—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्व्वामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कुण्डमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

शरीर वृद्ध और जीर्णशीर्ण होने पर भी जीवित रहनेकी इच्छा क्यों होती है? क्योंकि जीवात्मा अमर या नित्य होता है। मरना उसका धर्म नहीं है। प्रत्येक जीवात्माको अपनी प्रियतम आत्माके लिये ही शरीर, गृह, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, वस्त्र और भूषण आदि प्रिय होते हैं। श्रीकृष्ण सारे जीवोंके परम स्वरूप—आत्माके भी आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। इसीलिये वे ही सबके परम प्रेमास्पद होकर करुणा वशतः जगतके कल्याणके लिये देहीकी भाँति प्रतीत होते हैं।

श्रीवेदव्यासने समाधिमें भक्तियोगको माया-निवारक और भगवत्प्राप्तिका उपायस्वरूप दर्शन करके श्रवण-कीर्तन आदिको भक्तियोग प्राप्तिके हेतु रूपमें श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया है। अर्थात् भक्तियोगसे माया दूर होती है तथा भगवत्प्राप्ति होती है। पुनः श्रवण-कीर्तनसे ही भक्तियोगका प्रकाश होता है; इसी तथ्यको जगत्में प्रकट करनेके लिये ही व्यासदेवने श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया

है। इस श्रीमद्भागवतका श्रवण करनेसे ही शोक, मोह और भयको दूर करने वाली भक्तिका उदय होता है।

श्रीमद्वेदव्यासने प्रयोजनात्मक प्रेमको निर्विशेष ब्रह्मानन्दसे श्रेष्ठ समझ करके ही अपने ब्रह्मानन्दानुभवी पुत्र शुकदेवको भगवत्प्रेमका रसास्वादन करानेके लिये श्रीमद्भागवतका अध्ययन कराया था।

श्रीमद्भागवतके आविर्भावके सम्बन्धमें मत्स्यपुराण और श्रीमद्भागवतके विचारोंमें कुछ विरोधाभास देखा जाता है। श्रीमद्भागवतके “भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः।” “तथापि शोच्यस्यात्मानं आकृतार्थ इव प्रभो ॥” इन वचनोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि महाभारतकी रचनाके बाद भी व्यासदेवकी पूर्ण आत्म-प्रसन्नता नहीं हुई। तत्पश्चात् देवपिनारदकी कृपासे आत्मसमाधिमें श्रीभगवत्-तत्त्वका सम्यक् दर्शन कर उसे ही श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकाश किया। तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवतके अनुसार पहले महाभारतकी रचना हुई, तत्पश्चात् श्रीमद्भागवतकी। परन्तु मत्स्यपुराणमें ऐसा कहा गया है—अष्टादश-पुराणानि कृत्वा मत्स्यवतीसूतः। भारताख्यानमखिलं चक्र वेदोपवृद्धितम् ॥ अर्थात् अष्टादश पुराणोंकी रचना करनेके पश्चात् मत्स्यवत-नन्दन वेदव्यासने पंचमवेद स्वरूप श्रीमहाभारतको प्रकाशित किया था। इन दोनों परस्पर विरोधी दोखने वाले सिद्धान्तोंका श्रीजीवगोस्वामीने इस प्रकार समाधान किया है—श्रीव्यासदेवने पहले अठारह पुराणोंको प्रकाशित किया। इनमेंसे भागवतपुराण अस्यन्त संज्ञेयमें था, जिसमें केवल अभिधेयांशका ही उन्होंने वर्णन किया था। तदनन्तर वेदका विस्तार करके

उन्होंने महाभारतकी रचना की। फिर भी उन्हें आत्म-प्रसन्नता न होने पर श्रीनारदजीके उपदेशसे समाधि-लब्ध पूर्ण श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया। इस विस्तृत श्रीमद्भागवतका प्रकाश महाभारतसे पीछे होने पर भी श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतको ही पहले परीक्षित-सभामें कीर्तन कर जगतके सामने प्रस्तुत किया और तत्पश्चात् महाराज परीक्षितके पुत्र जनमेजयकी सभामें श्रीव्यास-शिष्य यैशम्पायन ऋषिने महाभारतको सुनाया था।

श्रीमद्भागवतमें वास्तव वस्तु श्रीभगवानकी लीला-कथाओंका वर्णन किया गया है। यह श्रीमद्भागवत गौतम कणादि तार्किकोंके शास्त्रसिद्ध द्रव्यगुण-कर्म आदिकी भाँति नहीं है अर्थात् उक्त तार्किकोंके शास्त्रोंमें अधिकतर द्रव्य-गुण-कर्म आदि के विषयमें ही विवेचन हुआ है; परन्तु श्रीमद्भागवतमें केवल परमार्थभूत वस्तुके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वह परमार्थ भूत तत्त्व क्या है? इसे कह रहे हैं—“वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दचते ॥”

तत्त्वविद् पुरुषगण जिस तत्त्वको अद्वयज्ञान कहते हैं, वे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नामसे परिचित हैं। उस अद्वयज्ञान वस्तुका परिचय श्रीमद्भागवतके अन्तमें श्रीसूत गोस्वामीने इस प्रकार दिया है—“सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्व-लक्षणम्। वस्तुद्वितीयं तन्निष्ठं” अर्थात् जो सम्पूर्ण वेदान्तका सार है अर्थात् जो सम्पूर्ण वेदान्तमें प्रधान रूपसे प्रतिपादित हुआ है, उस ब्रह्मके साथ जीवका एकत्व लक्षण ज्ञान ही अद्वितीय वस्तु है और श्रीमद्भागवत

वही अद्वितीय वस्तुनिष्ठ है । यहाँ जीव-ब्रह्मका अभेदत्व दिखलाई पढ़ने पर भी वेदव्यासकी समाधि में दीख पढ़नेवाले ब्रह्म और जीवमें अतिशय अभेदका अभाव प्रतीत होता है । क्योंकि धर्म-धर्मी रूपमें जीव और ब्रह्ममें अभेद रहने पर भी वास्तवमें व्यासदेवकी समाधिमें उन दोनोंमें भेद ही दृष्टिगोचर होता है । केवल चिद् अंशमें ही अभेद है । अन्यान्य विषयोंमें भेद है । गीतामें जीवको पुरुष और भगवानको पुरुषोत्तम बतला कर जीवसे ब्रह्मका भेद प्रतिपादित हुआ है ।

यहाँ इस प्रसंगमें श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें सन्दर्भके अतिरिक्त कुछ दूसरे तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा है कि श्रीमद्भागवत बोपदेव द्वारा रचित ग्रन्थ है । इस विषयमें यह स्थिर है कि बोपदेवका समय १३०० शताब्दी है । देवगिरि के यादव राजा महादेवका राजत्वकाल १२६०-१२७१ है । उनके बाद १२७१ से १३०६ तक राजा रामचन्द्र ने राज्य किया । इनके मंत्रोका नाम हेमाद्रि था । हेमाद्रि राजाके बड़े विश्वासी और प्रियपात्र थे । इन्हीं हेमाद्रिकी प्रसन्नताके लिये बोपदेवने अनेक ग्रन्थ लिखे । हेमाद्रिने उन ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार दी है—

“यस्य व्याकरणे वरेण्यवटनः स्फूर्तः प्रबन्धा दश प्रख्याता नवद्वैधकेऽपि तिथिनिर्धारणमें होतुः । साहित्ये त्रयणव भागवत तत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य च भूगीर्वाणशिरोमणेरिह गुणाः के के न लोकोत्तराः ॥”
व्याकरण सम्बन्धी दस, वैदिक सम्बन्धी नौ, तिथि

निर्णय सम्बन्धी एक, साहित्य सम्बन्धी तीन और भागवत सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हेमाद्रीद्वारा लिखे गये हैं । श्रीभागवत सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं—परमहंस-प्रिय, हरिलीलामृत और मुक्ताफल । हरिलीलामृत का दूसरा नाम—भागवताजुक्रमणिका है । यदि श्रीमद्भागवत बोपदेवद्वारा रचित होता तो उपरोक्त तालिकामें उसका भी नाम लिखा होता । कुछ लोग हरिलीलामृतको ही भागवत कहते हैं; परन्तु हरिलीलामृत स्वयं भागवत नहीं—उसमें भागवतका सारांश वर्णित है ।

द्वैतवादके प्रसिद्ध आचार्य श्रीमध्वाचार्यका प्रकट काल ११६६ ई. है । उन्होंने भागवत-तात्पर्य-निर्णय नामक ग्रन्थकी रचना की है । उनकेद्वारा रचित टीका से पूर्व हनुमान, चित्तसुखाचार्य आदि भागवतके प्राचीन टीकाकारोंके नाम पाये जाते हैं । हेमाद्रिकी टीकामें श्रीधरस्वामीका नाम पाया जाता है । श्रीधर स्वामीने स्वरचित विष्णुपुराणकी टीकामें चित्तसुखाचार्यका उल्लेख किया है । अतएव बोपदेवसे प्राचीन श्रीधरस्वामी हैं और श्रीधरस्वामीसे भी प्राचीन चित्तसुखाचार्य हैं । चित्तसुखाचार्य शंकर सम्प्रदायके तीसरे आचार्य हैं । यदि शंकराचार्यका प्रकटकाल ७ वीं, ८ वीं शताब्दीमें माना जाता है, तब चित्तसुखाचार्यका समय ६ वीं शताब्दीमें होगा । इनके द्वारा रचित भागवत-टीकाका उल्लेख श्रीधरस्वामी, मध्वाचार्य और विजयध्वज आदिने अपने-अपने ग्रन्थोंमें किया है । ईश्वरकृष्णद्वारा रचित सांख्य कारिकाकी एक टीका माठराचार्यने लिखा है । ११७७ ई. से १६६६ ई. के मध्य उसका चीनी भाषामें अनुवाद हुआ है । माठर-वृत्तिमें श्रीमद्भागवत

१५ स्कन्धके छठे अध्यायके ३५ श्लोक तथा आठवें अध्यायके ५२ श्लोक उद्धृत किये गये हैं । अतएव सन् ५०० ई. में भी श्रीभागवतकी विद्यमानताका प्रमाण पाया जाता है ।

अभिनवगुप्त - काश्मीरके प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदायके एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । इनका प्रकटकाल १०वीं शताब्दी माना जाता है । इन्होंने गीताके १४ वें अध्यायके ८ वें श्लोककी व्याख्यामें श्रीमद्भागवतके श्लोकका उद्धार किया है ।

शंकराचार्यने वासुदेव-सहस्र-नामावलीकी टीकामें दो स्थलों पर भागवतका उल्लेख किया है । प्रथम शतकके पाँचवें नामकी टीकामें उन्होंने इस प्रकार लिखा है—“यः आश्रयः परंब्रह्म परमात्मा परात्परः इति भागवते ।” इसी शतकके ५५ वें नामकी टीका में “पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा” इत्यादि श्लोकोंको उद्धृतकर भागवतका नामोल्लेख किया है । ‘सर्व-सिद्धान्त संग्रह’ और ‘चतुर्दश - मत-विश्लेष’ ग्रन्थमें उन्होंने लिखा है—परमहंसधर्मो भागवत पुराणो कृष्णेनोद्भवोऽथोपदिष्टः ॥

शंकर द्वारा रचित ‘गोविन्दाष्टक’ के एक श्लोकमें लिखा गया है—“मृगस्नामत्सीहेति यशोद ताडन-शैशवमन्त्रासं व्यादितवक्त्रालोकित लोकालं क चतुर्वशं लोकालिम्” अर्थात् मा यशोदाने मिट्टा खाना निषेध करते समय कृष्णके मुखचन्द्रमें चौदह लोकोंका देखा था । यह वर्णन श्रीमद्भागवतके आधार पर है ।

शंकराचार्यने स्वरचित ‘प्रबोध सुधाकर’ नामक ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी बाल्यलीलाका जो वर्णन किया है, वह श्रीमद्भागवतसे मिलता-जुलता है । जैसे—

“कस्याश्चित् पूतनायन्याः कृष्णायन्यपिवत् स्तनम्”
(भागवत)

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्याः ।
अपिवत् स्तनमित साक्षाद् व्यासो नारायणःप्राह ।
(शंकर)

शंकराचार्यके गुरुका नाम गोविन्दपाद तथा परमगुरु (गुरुके गुरु) का नाम गौड़पाद है । उन्होंने पञ्चीकरण व्याख्यामें लिखा है—“जगृहे पौरुषं रूपमिति भागवमुपन्यस्तम् ।” इनका एक दूसरा ग्रन्थ है—उत्तर गीताकी टीका; इसमें उन्होंने “तदुक्तं भागवते” लिख कर “श्रेयः सृति” श्लोकको उद्धृत किया है । केवल इतना ही नहीं, उन्होंने सांख्य उपनिषद्की कारिकामें भागवतका आश्रय लिया है । आचार्य गौड़पाद शंकर सम्प्रदायमें शुकदेव (व्यास के शिष्य) के शिष्य माने जाते हैं; यद्यपि इस विषय में मतभेद देखा जाता है ।

दिल्लीके सम्राट पृथ्वीराजके मंत्री एवं राज-कवि चन्द्रवरदाई (११६१ ई.) ने स्वरचित पृथ्वीराजरासो-ग्रन्थमें परीक्षितका सर्पदंशन, दशावतार और श्री-कृष्ण-चरित वर्णन-प्रसंगमें श्रीमद्भागवतका उल्लेख किया है—

“भागवत सुतहि जो इक चित्त
तो सराप छूटय अक्रम ।”

कुछ लोग बोपदेवको जयदेवका भाई मानते हैं । परन्तु जयदेव गौड़ प्रदेशके राजा लक्ष्मणसेनके राज-कवि थे । उनका अभ्युदयकाल १११८ शताब्दी माना जाता है । और बोपदेव १३ वीं शताब्दीके व्यक्ति हैं । चन्द्रवरदाईने पृथ्वीराजरासोमें जयदेवका वर्णन किया है ।

अगवान श्रीकृष्णचन्द्रके अन्तर्धानके ३० वर्ष पश्चात् कलियुगके प्रारम्भमें श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्-

भागवतकी कथाका कीर्तन किया था । उसके २०० वर्षके पश्चात् गोकर्णने धुन्धुकारीको भागवत सुनाया था और उसके ३० वर्ष बाद सनतकुमारने देवर्षि नारदको भागवत माहात्म्य सुनाया । इस विषयमें प्रमाण है—

आकृष्णनिर्गमास्त्रिशद्वर्षाधिकगते कली ।
नवमीतो नभस्ये च कथारंभं शुकोऽकरोत् ॥
परीक्षितश्रवणान्ते च कली वर्षशतद्वये ।
शुद्धे शुभो नवम्याञ्च धेनुजोऽकथयत् कथाम् ॥
तस्मादपि कली प्राप्ते त्रिशद्वर्षगते सति ।
उचुरुज्जं सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः ॥

(पञ्चपुराण उत्तर खण्ड भागवत माहात्म्य)

इस प्रकार ऊपरमें इस विरुद्ध मतवादका खण्डन किया है कि आचार्य शंकरने श्रीमद्भागवतकी टीका नहीं लिखी है—इसीलिये श्रीमद्भागवत अत्यन्त आधुनिक ग्रन्थ है तथा वेदव्यासद्वारा रचित नहीं है । यदि ऐसा मान लिया जाय कि आचार्य शंकर द्वारा भागवत पर टीका न लिखनेके कारण श्रीमद्भागवत अत्यन्त आधुनिक ग्रन्थ है, तब तो अनेक उपनिषदोंको भी अत्यन्त आधुनिक मानना पड़ेगा; क्योंकि आचार्य शंकरने अधिकांश उपनिषदोंके ऊपर भाष्य या टीकाएँ नहीं लिखी हैं ।

कुछ और भी पूर्वपक्ष उपस्थित किये जाते हैं जिनका समाधान होना आवश्यक है । वे ये हैं—

(१) भागवत महाभारतके पीछे रचित हुआ है ।

(२) मत्स्यपुराणमें भागवत-दान-प्रसंगमें “हेमसिंह समन्वित” उल्लिखित रहनेसे उसका लक्ष्य देवीभागवतसे है; क्योंकि सिंह देवीका ही वाहन है ।

इसका उत्तर यह है कि वर्त्तमान १८ पर्वों वाला महाभारत व्यास रचित महाभारतका संचिप्त रूप है । व्यासजीने पहले एक सौ पर्वोंसे युक्त महाभारतकी

रचना की । पुनः ऐसा जानकर कि यह अत्यन्त बृहदाकार हो गया है, उन्होंने अपने शिष्य जैमिनी और वैशम्पायनको आज्ञा दी कि वे उसे संक्षेपमें कर दें । यथा—

एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।
ततस्तु सूतपुत्रेण रोमहर्षणिना पुरा ।
कथितं नैनिवारण्ये पवाण्यष्टादशैव तु ॥

अठारहों पुराण अठारह - पर्वयुक्त महाभारतसे पहले रचे गये थे; परन्तु एकसौ पर्वोंवाले पूर्ण महाभारतसे पूर्व नहीं । जहाँ भागवतको भारतसे पूर्वकी रचना बतलाया गया है, वहाँ भारतका उद्देश्य १८ पर्वोंवाले संचिप्त महाभारतसे समझना चाहिये और जहाँ महाभारतसे पश्चात् श्रीमद्भागवतकी रचनाका उल्लेख है, वहाँ १०० पर्वोंवाले पूर्ण महाभारतको समझना चाहिये । पुराण और महाभारत जब एक ही व्यक्तिके रचित ग्रन्थ हैं, तब उसमें कौन पहले, कौन पीछेकी शंका करना उचित नहीं । वेदान्त में गीताका उल्लेख है और गीतामें वेदान्तका उल्लेख है । मार्कण्डेय और अग्नि आदि पुराण महाभारतसे पूर्व रचित होने पर भी उनमें महाभारत का नामोल्लेख है । महाराज जन्मेजयके यज्ञमें महाभारत सुनाया गया था और महाभारतमें ही जन्मेजयकी उक्त कथाका वर्णन भी पाया जाता है । इससे ही उपरोक्त तथ्यकी सत्यता प्रमाणित होती है । अतएव कौन आगे और कौन पीछे—इसे समझाना कठिन है ।

भागवत शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ विचार करने पर ‘देवीभागवत’ शब्द किसी प्रकार भी “भागवत” के लिये प्रयुज्य नहीं हो सकता है । इस विषयमें इससे पूर्व अनेक विचार दिये गये हैं ।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रीती महाराज

श्रीचैतन्य शिक्षामृत

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ११, संख्या १, पृष्ठ २४ से आगे]

१२—पाप और अपराध

पात्रकी गुरुता और लघुताके अनुसार पापकी गुरुता और लघुताका विचार होता है। गुरुता और लघुताके अनुसार पाप, पातक, अतिपातक और महापातक आदि भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। साधु और ईश्वरके प्रति किये गये पापको 'अपराध' कहते हैं। अपराध सबसे बड़ा भयंकर पाप है। इससे सर्वदा दूर रहना चाहिये। अगली वृष्टिमें मुख्य-प्रवृत्ति युक्त विधिका विवेचन होगा।

१३—त्रैवर्गिक और आपवर्गिक धर्म

इस छोटी पुस्तकमें धर्माधर्म, पापपुण्य और विधिनिषेध समूहका केवल दिग्दर्शन मात्र कराया

गया है। जो लोग अधिक विस्तारके साथ इस विषयको जानना चाहते हैं, उन्हें महर्षियोंद्वारा रचित बीस धर्म-शास्त्र, इतिहास और पुगणोंका अध्ययन करना चाहिये। इस नश्वर जगतमें एकमात्र धार्मिक जीवन ही सर्वोत्तम वस्तु है। उसे प्राप्त करनेके लिये सबको विशेष प्रयत्न करना चाहिये (क)। सत्कर्म समूह दो प्रकारके हैं—त्रैवर्गिक और आपवर्गिक। त्रैवर्गिक धर्म अनित्य, लुप्त, स्वार्थपर और कमकाण्डमय होते हैं। आपवर्गिक धर्म उच्च है, तथा वह मोक्ष प्रदान करता है। कृष्ण भक्तिस्वरूप विशुद्ध आपवर्गिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यही सबके लिये पालनीय है। इससे मोक्षकी कामना भी दूर हो जाती है और उसका स्वरूप है—भक्ति।

तृतीय वृष्टि

मुख्य विधि या वैधी भक्तिका साधारण विचार

प्रथम धारा

वैधी भक्तिका लक्षण

शास्त्रीय विधिसे जो धर्म उत्पन्न होता है, उसे वैध-धर्म कहते हैं। वैध-धर्म दो प्रकारका है—आर्थिक और परमार्थिक। आर्थिक धर्मको त्रैवर्गिक वैध-धर्म और पारमार्थिक धर्मको आपवर्गिक वैध-धर्म भी कहते हैं। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन वर्ग जिस धर्मके द्वारा पाये जाते हैं—उसे त्रैवर्गिक धर्म कहते

हैं। इससे केवल शरीर, मन, समाज और न्यायपरक जीवनकी उन्नति होती है तथा परलोकमें स्वर्गसुख लाभ होता है। स्वर्गसुख—अनित्य होता है। उसे भोग कर पुनः जीवको कर्म-क्षेत्रमें लौट आना पड़ता है। पहले जिस वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन किया गया है, वह वास्तविकमें आर्थिक है। धर्म, अर्थ

(क) वर्णाश्रमवर्तां धर्म एव आचार लक्षणः। स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥ (भा. ११।१।५७)

और काम चक्रकी भाँति आते-जाते रहते हैं। इसके द्वारा कर्मजड़ मुक्ति नहीं होती। इस धर्मका उद्देश्य अर्थ होता है। इसलिये इसका नाम आर्थिक है। कर्मके जितने प्रकारके आचान्तर फल हैं; वे सभी अर्थ (क) ही हैं। एक प्राप्त अर्थ पीछेसे कर्मका रूप का धारण करके अन्य अर्थको उत्पन्न करता है। इस प्रकार धर्म और अर्थकी शृङ्खला जहाँ समाप्त हो जाती है, उस अन्तिम अर्थका नाम परमार्थ या अपवर्ग है। त्रैवर्गिक धर्म—बहुदेवतानिष्ठ या भगवन्निष्ठ होता है। इस विषयमें केवल एक उदाहरण दूँगा। विवाह एक कर्म है। विवाहका अर्थ है—सन्तान-उत्पत्ति। पुनः सन्तान-उत्पत्ति कर्मका रूप धारण करके पिण्डदान रूप अर्थको-उद्देश करता है। फिर पिण्डदान कर्मका रूप होकर पितृलोकके तृप्तिरूप अर्थको उत्पन्न करता है। पितृलोक तृप्त होने पर सन्तानके मङ्गल रूप

अर्थको देते हैं। सन्तानका मङ्गल पुनः कर्म-रूप धारण कर दूसरे-दूसरे अर्थोंको प्रदान करता है। ये ममस्त अर्थ अनित्य फल (ख) हैं। सन्तानका सुख और अन्तमें मोक्षजन्य शान्ति तथा ब्रह्मसुख तक धर्म-अर्थकी शृङ्खला चली गयी है। जिस समय ब्रह्मसुख स्पष्टीभूत होकर परम पुरुषके सेवासुखके रूपमें परिणत हो जाता है, उस समय अर्थ-शृङ्खला समाप्त हो जाती है और केवल चरमफल रूप परमार्थ की प्राप्ति हाँती है। अपवर्ग शब्दके दो अर्थ हैं—माँच और भक्ति। मोक्ष होने पर आत्मा जड़से मुक्त होकर नित्य-धर्म रूप भक्तिको लाभ करती है।

आर्थिक और पारमार्थिक धर्मका भेद

जब तक धर्म-आचरणका उद्देश्य केवल मात्र अर्थ होता है, तब तक वह धर्म—आर्थिक कहलाता है। जब वही धर्म परमार्थको उद्देश करता है तब

(क) ब्रह्मवचंसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् । इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् । वसुकामो वसून् वद्वान् वीर्यकामोऽय वीर्यवान् ॥
अश्वत्थकामस्तवदिति स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् । विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम् ॥
आयुष्कामोऽश्विनी देवीं पुष्टिकाम इलां यजेत् । प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरी ॥
रूपानिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम् । आधिपत्य कामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥
यज्ञं यजेद् धराकामः कोशकामः प्रचेतसम् । विश्वाकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थं उषां सतीम् ॥
धर्मार्थं उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितृन् यजेत् । रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥
राज्यकामो मनून् देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् । कामकामो यजेत् सोमकामः पुरुषं परम् ॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीर्थेन भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्वचलोभावो यद् भागवतसङ्गतः ॥

(भा० २।३।२-११)

(ख) तावत् प्रमोदते स्वर्गं यावत् पुण्यं समाप्यते । क्षीणपुण्यः पतत्यर्वाग्निरिच्छन् काञ्चालितः ॥

(भा० ११।१।०।२६)

कर्माणि दुस्त्रोदकाणि कुर्वन् वेहेन तं पुनः । देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥
लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् । ब्रह्मणोऽपि मयं मत्तो द्विपराहंपरायुषः ॥

(भा० ११।१।०।२६-३०)

उसका नाम परमार्थिक धर्म होता है। आर्थिक धर्मका दूसरा नाम नैतिक-धर्म या स्मार्त धर्म है। पारमार्थिक धर्मका नाम—साधन भक्ति है। नैतिक या स्मार्त-धर्ममें जो पूजा, बन्दना, सन्ध्योपासना और यज्ञशुद्धि आदि ईशाराधना देखी जाती है, वह पारमार्थिकी नहीं होती है, क्योंकि इन नित्य और नैमित्तिक ईश्वरकी आराधनाओंसे साधकके जड़-स्वभावकी पुष्टि होती है अथवा सामाजिक उन्नति होती है। वे समस्त पूजाएँ कर्मकी श्रेणीमें हैं, क्योंकि वे अर्थको उत्पन्न कर निरस्त हो जाती हैं। ईश-पूजा—स्मार्त धर्मकी दूसरी-दूसरी नीतियोंके अन्तर्गत एक नीति मात्र है। वह नित्य-ईशानुगत्य लक्षणयुक्त पारमार्थिक विधि नहीं है। जो कर्म केवल जगतके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याणको पैदा करते हैं, वे कर्म नैतिक हैं। त्रैवर्गिक धर्ममें परमेश्वरको तत्त्वतः अस्वीकार करके भी प्रवृत्तिका शोधन करनेके लिये नैतिक कार्यके रूपमें ईश्वर-उपासनाकी व्यवस्था है। पाश्चात्य देशीय प्रधान नास्तिक कॉमटीने भी चित्त शुद्धि के लिये ईश्वर-उपासनाकी व्यवस्था दी है। कर्म मार्गमें जहाँ भी ईश-आराधना देखी जाती है, वे सभी इसी श्रेणीकी उपासनाएँ हैं। योग शास्त्रमें ईश्वर-प्रणिधानका विधान देखा जाता है। परन्तु उनकी इस ईश्वर-प्रणिधान क्रियाका उद्देश योग सिद्धि है। अतः यह ईश्वर प्रणिधान भी पूर्ववत् कर्माङ्ग ही है। परन्तु भक्तिशास्त्रमें जिस वैधी भक्तिकी व्यवस्था है, वह पारमार्थिक या विशुद्ध आपवर्गिक धर्म है। स्थिर चित्तसे विचार करने पर ऐसा जान पड़ेगा कि नैतिक या स्मार्त मतके वैध आर्थिक धर्म और नित्य-ईशानुगत्यरूप वैध पारमार्थिक धर्ममें बहुत बड़ा तात्त्विक भेद है। यह तात्त्विक भेद क्रियाका आकार-

गत भेद नहीं, प्रत्युत चित्तका निष्ठागत भेद है। निरीश्वर नैतिक और कर्म-प्रिय स्मार्तगण केवल नैतिक निष्ठाको प्रधान मानते हैं तथा वैध आर्थिक धर्ममें कटौती कर धर्म, अर्थ और काम तक उसकी सीमा निर्धारित कर उसे त्रैवर्गिक धर्मका नाम देते हैं। वैध पारमार्थिक भक्तजन वैध आर्थिक धर्मके फल धर्म, अर्थ और काममें अपवर्गकी और उससे भी आगे निरुपाधिक प्रीतिरूप अफुरन्त अनन्त फल की कड़ी जोड़ उसकी सीमा बढ़ा कर उसका जो आकार देते हैं वह स्मार्त धर्ममें अवश्य ही पृथक् है। वास्तवमें नैतिक स्मार्त धर्म पारमार्थिक धर्मके कोड़ीभूत खण्ड-धर्म विशेष है। वैध-धर्म पूर्णता लाभ कर मुख्य विधि नाम ग्रहण कर पारमार्थिक धर्म हो पड़ता है (क)। आर्थिक वैध-धर्मको उन्नत करनेसे पारमार्थिक वैध-धर्म होता है। ईशानुगत्यरूप जीवके नित्य-धर्मको आर्थिक वैध-धर्ममें जोड़ देनेसे ही आर्थिक वैध-धर्म रूप कली प्रस्फुटित होकर पारमार्थिक वैध-धर्म होता है। संसार-स्थित जीव पारमार्थिक धर्मको स्वीकार करने पर भी उनको वर्णाश्रमगत वैध आर्थिक धर्म त्याग नहीं करता। उनका शरीर, मन और समाज वर्णाश्रम धर्मकी महायतासे सदैव पुष्ट होता रहेगा। परन्तु शरीर, मन और समाजकी पुष्टिसे स्वच्छन्दतापूर्वक स्थिर होने पर उसकी आत्मा परमेश्वरकी उपासनामें नियुक्त होकर नित्यानन्दको प्राप्त होती है (ख)। वैध आर्थिक धर्मको कर्म-काण्ड और वैध पारमार्थिक धर्मको 'भक्ति' अर्थात् साधन भक्ति कहते हैं। इस लिये वैज्ञानिक विचारसे गौणविधि रूप कर्म एक पर्व तथा मुख्य विधिरूप भक्ति एक दूसरे पर्वके रूपमें दिखलायी पड़ते हैं।

(कणशः)

(क) स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । ग्रहैतुष्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानश्च यद्वैतुकम् ॥ (भा. १।२।५-६)

(ख) प्रतः पुं भिद्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः । स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संतिद्धिर्हरितोषणम् ॥ (भा. १।२।१३)